

हिन्दी नवजागरण

[व्याख्यान]

कर्मन्दु शिशिर

Prose

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

अग्निशेखर और क्षमा कौल
द्वारा यह
पुस्तक सप्रेम भेंट

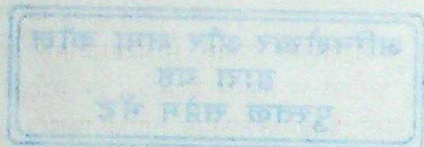
हिंदी नवजागरण

J.M. College of Education
Raipur, Bantalab
Jammu.

कर्मन्दु शिखर

हिंदी नवजागरण को हम आज से डेढ़ सौ वर्ष पहले देखते हैं। उसी तरह हमें यह भी अनुमति होनी चाहिए कि डेढ़ सौ वर्ष पहले से, आज के समय को भी देखा-परखा जाये।

जब से रामविलास जी ने हिंदी नवजागरण को बहस-विचार के केंद्र में रखा, तभी से उनके प्रति ऐसा आचरण किया जा रहा है, गोया उन्होंने ही हिंदी में नवजागरण पैदा कर दिया हो ! लेकिन यह अपराध उनका नहीं था। हिंदी में नवजागरण उसके जागरूक लेखकों की ही देन है। इसलिए डॉ. रामविलास शर्मा का 'हिंदी नवजागरण' ग़लत हो सकता है, लेकिन जो हिंदी नवजागरण है, उसको तो अब डॉ. रामविलास शर्मा भी ग़लत नहीं कह सकते। हम डॉ. रामविलास शर्मा से सहमत हों, न हों - यह बात महत्त्वपूर्ण नहीं है। इस प्रसंग में महत्त्वपूर्ण रामविलास शर्मा भी नहीं है, महत्त्वपूर्ण है - 'हिंदी नवजागरण।' क्योंकि हिंदी नवजागरण ही वह बुलंद दरवाज़ा है - भारत के निकटतम अतीत का। उस दरवाज़े को खोलने से हम अपने वर्तमान को ज़्यादा प्रामाणिकता से देख सकते हैं, समझ सकते हैं। इससे हमें अपने भविष्य के निर्माण में मदद मिलेगी। अब सवाल यह है कि वर्तमान को किस तरह से देखें। जिसका जैसा मन करे, वैसा देखे ? इसकी अनुमति नहीं होती। अपनी माँ से किस तरह का सलूक किया जाता है और पिता से - इसकी कुछ सुनिश्चितता होती है, मनोवांछित व्यवहार की अनुमति नहीं होती है। यह कैसे तय होगा ? यह आज के समय और समाज से हमारे सरोकारों से तय होगा।



अब हम अपने आज के विवाद को अपने पूर्वजों के विवाद से जोड़े तो यह हमारी समस्या है। उन पूर्वजों की समस्या नहीं है। हिंदी नवजागरण कोई विचार-विमर्श करके खड़ा किया गया राजनीतिक संगठन नहीं था कि जिसकी एक पार्टी थी, विचार-धारा थी, कार्यक्रम थे, निश्चित पद और उन पर बैठे हुए लोग थे - जिनके लिखे और किए को लेकर कोई यह कहे कि किसी की यह बात नवजागरण के इस या उस सिद्धांत से बाहर है। ऐसा नहीं था। वह तो कुछ ऐसे लोग थे जो सोए समाज में अपेक्षाकृत जागरूक थे। वे अपने समय-समाज से जुड़े थे और उसको बदलने के लिए कुछ करना चाहते थे। इसमें कई लोग थे। एक व्यक्ति की भूमिका में भी अंतर था। वह जैसा शुरू में कर रहा था, बाद में उसने वैसा नहीं किया। उसमें विकास हुआ, परिवर्तन आए। बिना इस बात के अहसास के हम जैसा चाहें, वैसा नवजागरण के साथ सलूक कर सकते हैं, तो कीजिए। हम उसको हिन्दूवादी सिद्ध कर देंगे - कर दीजिए। लोगों ने मार्क्सवाद और गांधीवाद से गलत सलूक किया तो मार्क्स और गांधी ने क्या कर लिया ?

डॉ. रामविलास शर्मा ने हिंदी नवजागरण की जिस सामग्री के आधार पर काम किया है, वह सामग्री मुश्किल से दस प्रतिशत होगी, शायद उतनी भी नहीं। इसलिए उपलब्ध सामग्री के आधार पर इच्छित निर्णय निकालने की हड़बड़ी कई समस्याएँ पैदा कर रही हैं। नज़रिये का निर्णायक महत्व तो है ही। हम पूछते हैं आज जितनी बैलगाड़ियाँ हैं, उतने हवाईजहाज़ नहीं है, तो क्या हम उन बैलगाड़ियों के यथार्थ पर ही देश का मूल्यांकन कर लेंगे ? हिन्दूवादी सामग्री क्या अतीत में छपती थी, इसको छोड़िए न ! आज कहाँ, कौन सामग्री, किस मात्रा में छप रही है - उसी पर विचार कीजिए न ! इसीलिए मैं कह रहा था कि नवजागरण काल से आज के समय को भी देखने-परखने और इच्छित निर्णय निकालने की अनुमति मिलनी चाहिए। आज, आपका समय कैसा है ? दिव्य ज्योति, ज्ञानबोधनुमा दस-दस लाख छपने वाली कई पत्रिकाएँ हैं। पांचजन्य, राष्ट्र धर्म - 'पहल', 'वसुधा', 'आलोचना' से कई गुना अधिक छपने वाली पत्रिकाएँ हैं। जिस समाचारपत्र के सलाहकार संपादक डॉ. नामवर सिंह या प्रभाष जोशी जैसे प्रबुद्ध लोग हैं - उसमें भी राशिफल, प्रवचन और हिन्दूवादी सामग्री छपती है या नहीं ? वे हिंदू थे, इसी देश में थे तो क्या करते ? वे हमारी तरह मार्क्सवाद पढ़े-लिखे प्रबुद्ध क्रांतिकारी तो थे नहीं - जो ब्रिटिश राजसत्ता को उलट देते। उन्होंने अपने सोए समाज को जगाने और बदलने के लिए अपनी समझ और सामर्थ्य के मुताबिक कुछ किया - जिसका हम आज आकलन करने बैठे हैं। अब वे कैसे

थे, क्या किया, उनसे सरोकार और उद्देश्य क्या थे - इस पर विचार कीजिए न ! वे गोरे थे कि काले थे, हिंदू थे कि क्या थे - मूल बात यह कि उस परिस्थिति में उन्होंने क्या किया ? इस पर विचार कीजिए और उस समय के सापेक्ष कीजिए। आज कल्पना कीजिए आज से कोई - डेढ़ सौ वर्ष बाद कोई वीर भारत तलवारनुमा निकले और 'पहल', 'वसुधा' या 'आलोचना' को लेकर कहे कि ये पाँच सौ हजार छपने वाली सीमित मात्रा और संख्या वाली पत्रिकाओं और इसमें छपने वाले रचनाकारों को क्यों महत्व देते हैं - 'राष्ट्र धर्म' और 'पांचजन्य' पर ध्यान दीजिए न !' जितने यहाँ पर विद्वान जुटे हैं - वही इसका उत्तर दें। ऐसे लोग आज के भारत का यथार्थ रखेंगे - 'इतनी बैलगाड़ियाँ, इतने टमटम - भारत ऐसा पिछड़ा देश !' आपका मन जैसा चाहे, वैसा निष्कर्ष निकाल लीजिए, आपको छूट है।

मैं फिर कह रहा हूँ इस तरह का विवाद, जो हो रहा है, कुछ लोगों द्वारा सायास किया जा रहा है - उसका एक बहुत बड़ा कारण यही है कि नवजागरण की विपुल मूल सामग्री अभी भी सामने नहीं आ पाई है। हिंदी नवजागरण किसी की कल्पना नहीं है, यह इतिहास की पैदा हुई सच्चाई है, यथार्थ है। जो रामविलास शर्मा हिंदी नवजागरण के सबसे बड़े अध्येता हैं और हैं भी। उनको तो मुश्किल से दस प्रतिशत सामग्री मिली और उसी पर विचार-विश्लेषण करते उन्हें पसीना आ गया। आप उनके नवजागरण संबंधी कार्यों को समय से मिलाकर देखिए। १८५७ पर उनकी किताब १९५९ में आती है - तब वे 'नवजागरण' का उल्लेख नहीं करते। सातवें दशक में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र किताब आई - उसमें भी 'नवजागरण' का उल्लेख नहीं हुआ। पहली बार १९७७ में उल्लेख होता है - 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण' - यहाँ भी गौर कीजिए 'नवजागरण' पर स्ट्रेस बाद में है, द्विवेदी जी पर पहले। फिर आगे काम करने के दौरान, उनको भी काम की प्रक्रिया में लगा था - 'हिंदी नवजागरण'। ऐसी बात नहीं थी कि उनको इसका पहले से बोध था। काम करने के दौरान बोध हुआ था तो काम करने के दरम्यान कहाँ से बोध हुआ ? मूल स्रोत सामग्री से गुजरकर। फिर उन्होंने 'हिंदी नवजागरण' के स्वरूप को उकेरना शुरू किया और कठिन अध्यवसाय से लंबे समय तक इस कार्य में लगे रहे।

हमारे यहाँ एक बड़ी सुविधा है कि अपना पेण्ट-वैण्ट गंदा नहीं करना चाहिए। हम तो केवल विचार करेंगे। रामविलास जी या दूसरा कोई, सब काम कर दें और हम अपनी उच्च स्तरीय समझ से यह बता देंगे कि वे कहाँ-कहाँ गलत हैं - तो यह तरीका नहीं है। बाप ने मकान बना दिया है, उसमें हम

रह रहे हैं और कोस रहे हैं कि ऐसी जगह बना दी, लैट्रिन यहाँ बना दिया, यह कमरा ऐसा होना चाहिए ... बताइए भला ! इस मकान में यह नहीं है, वह नहीं है। यह ऐसा है, इसे वैसा होना चाहिए। .. अजब हाल है भैया ! आप क्यों परेशान हैं, दूसरा मकान बनवा लीजिए। इसलिए यह तौर-तरीका, बातचीत करने का - अपने इतिहास पर या अपने पूर्वजों पर - आपत्तिजनक है। रामविलास जी के सोच-विचार के केंद्र में नवजागरण रहा है। 'भारत में अंग्रेजी राज और मार्क्सवाद' - नवजागरण का ही हिस्सा है। 'गांधी, अंबेडकर, लोहिया और भारतीय इतिहास की समस्याएँ' तक नवजागरण का चिंतन जुड़ा रहा। इतना ही नहीं, वे पीछे भी पलटे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र वाली पुस्तक का अगला एडीशन होता है तो नाम रखते हैं - 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और हिंदी नवजागरण'।

दूसरी चीज़ यह कि हिंदी प्रदेश का नवजागरण और हिंदी नवजागरण दोनों दो चीज़ें हैं। क्षमा कीजिए, इस बीच में एक बात और, कि आप लोग इसको हिंदी नहीं - हिंदू नवजागरण कहने लगे हैं, तुक भी मिलता है - हिंदी, हिंदू का। मैं आपसे जानना चाहता हूँ कि बंगला का हिंदू अपना विचार किस भाषा में रखता था और मराठी का हिंदू ? भारत की दूसरी भाषाओं के हिंदू किस भाषा में विचार करते थे ? तब आप यही साफ़ बात क्यों नहीं कहते कि सारी भाषाओं का नवजागरण, हिंदू नवजागरण था - असल नवजागरण तो अंग्रेज़ी में हो रहा था, अंग्रेज़ कर रहे थे। भारत को आधुनिक बना रहे थे।

अच्छा, चलिए आपकी यह बात भी मान लिए, अब आगे बढ़िए। चाहे जैसा भी नवजागरण था, आखिर इसकी सबसे बड़ी उपलब्धि क्या थी ? सन् १९४७ में इस देश की आज़ादी ! तब हिंदू नवजागरण का सबसे बड़ा प्रतिफल देश की आज़ादी थी - इसको भी कहिए। लेकिन आप कहते हैं कि देश की आज़ादी में जो अभी हिंदू हैं न ! उससे उनका तो कोई संबंध ही नहीं था। आखिर आप दोनों बातें कैसे काहिएगा ? देखिए इस तरह के जो विचार व्यक्त किए जा रहे हैं, यह आज कोई नई बात नहीं है, न ये लोग नए हैं। वर्षों से अंग्रेज़ी में ऐसा कहा जा रहा है। जिस तरह अमेरिका, इराक को आज लोकतांत्रिक बना रहा है, उसी तरह अंग्रेज़ इस देश को आधुनिक बना रहे थे। अंग्रेज़ों की बातें उनकी ज़ारज औलादें दुहाराने लगीं। १८५७ में लड़ने वाले इस देश को पीछे ले जा रहे थे, वे सामंतवाद के प्रतिनिधि थे। उनकी तुलना में अंग्रेज़ पूँजीवाद के प्रतिनिधि थे - इसलिए वे प्रगतिशील हुए। अब इस पोज़ीशन को क्या कहें ?

अंग्रेजी वाले अक्सर कहते रहते हैं कि सन् १८५७ पर हिंदी में तो कुछ काम हुआ नहीं है। एक अंग्रेजी की नक़ल है। अब इनको कौन समझाए ? नवजागरण पर काम करते हुए कुल २१ किताबें तो मुझे देखने को मिली। दूसरी चीज़ यह कि १८५७ से हिंदी नवजागरण शुरू हुआ था कि पहले हुआ था, यह भी बहुत महत्वपूर्ण नहीं है। हमारे समय-समाज के सरोकार में जब ज़रूरत पड़ेगी तो हम तय कर लेंगे। सबसे ज़रूरी बात यह कि हिंदी नवजागरण - जिसके दस प्रतिशत सामग्री पर हम आज बहस-विचार कर रहे हैं, उसका नब्बे प्रतिशत तो अभी सामने आया भी नहीं है। फिर हिंदी प्रवेश के नवजागरण में जो जनता थी - वह तो हिंदी में काम करती नहीं थी, हिंदी तो कोई भाषा ही नहीं थी - काम चलता था लोकभाषाओं में। हिंदी का दस प्रतिशत सामने है तो लोकभाषाओं का आप स्वयं अनुमान लगा लें। आपको बताऊँ - मगही में एक रिसर्च हई है। मगही के ३९ कवि भारतेन्दु के पास गए थे। उन्होंने कहा कि हम हिंदी में लिखना चाहते हैं, आप हमारा मार्गदर्शन करें। भारतेन्दु ने कहा - नहीं आप लोग मगही में ही लिखें। अब और-और लोकभाषाओं के कौन-कौन लोग उनसे मिलते थे या उन जैसे, और वे क्या कहते थे - यह तो रिसर्च की बातें हैं। मेरा कहना है कि फ़ैसले वाली भाषा बोलने के पहले विचार करने की ज़रूरत है, हमको-आपको। लेकिन नहीं, कोई दूसरा काम करेगा और हम तो सिर्फ़ बताएँगे कि तुम कहाँ ग़लत हो ? यह तो हमारी मुद्रा है।

बात यह कि सन् १८५७ के पहले और बाद की लोकभाषाओं का हमने संग्रह किया ? जनता के बीच जाकर कभी काम किया ? क्या वह लोकभाषा इसके पहले नहीं थी, क्या उनमें कविता या कथा की कोई परंपरा नहीं रही है ? ज़ाहिर है ऐसी मूढ़तापूर्ण बात तो कोई नहीं कहेगा। लेकिन यह तो सच है कि उस पर काम नहीं हुआ है तो होना चाहिए। तीसरी बात यह कि हिंदी भाषी समाज में ही अविच्छिन्न रूप से उर्दू भी पलती-बसती आई है। हिंदी नवजागरण में तो दस प्रतिशत सामग्री पर काम हुआ, इतनी बहस हो गई कई निष्कर्ष भी निकाल लिए गए। लेकिन उर्दू में ? उर्दू नवजागरण काल में किस रूप में थी, उसमें १८५७ ई. के आसपास से सन् १९४७ के बीच क्या छपा, क्या नहीं, मैंने कई उर्दू वालों से पूछा, किसी को कुछ विशेष जानकारी नहीं हो सकता है सही आदमी तक मेरी पहुँच नहीं हो पाई हो। लेकिन यह जो तरीक़ा है कि जिसको जो मन किया, कहीं से एक-दो किताबें मिलीं और उसे ही लेकर सामने आ गए। यह उचित नहीं। एक-दो किताबों से बात नहीं बनने वाली। नवजागरण तो ज़रूरत थी न, पूरे व्यापक पैमाने पर लोगों की।

एक और बात है कि उस समय जो अंग्रेजी पत्र निकलते थे - 'द इंपीरियल', 'द मिरर' ..., ये जो अखबार थे वो राष्ट्रवादी निकलते थे। वे भी अपने समय-समाज के सरोकारों से जुड़े हुए थे। वे भी लिखते थे। ऐसे पत्रों की भी छानबीन होनी चाहिए। इतिहासकारों और शोधार्थियों को इनकी सामग्री भी सामने लानी चाहिए और विचार करना चाहिए कि ये किसके हित साधन में लगे थे। एक और चीज़ है कि इस देश का हिंदी भाषी प्रदेश, जिसको 'काऊ बेल्ट' कहते हैं, पता नहीं कैसे कहते हैं ? अगर वाकई ऐसा है तो १९४७ ई. के बाद ही 'काऊ बेल्ट' बना होगा, पहले नहीं बना है।

एक और पक्ष है जिस पर काम होना चाहिए और इसे भी शामिल करना चाहिए नवजागरण में, वह यह कि विभिन्न जनपदों का अलिखित इतिहास कुछ लोगों ने काम किया है। भाई सुधीर विद्यार्थी ने बीसलपुर को लेकर ऐसा ही कार्य किया है। अमृतलाल नागर ने 'ग़दर के फूल' से इसकी अनुकरणीय शुरुआत की थी। उत्तरांचल के शिवबालक डबराल ने तो कई खंडों में काम कर इस दिशा में एक कीर्तिमान ही स्थापित कर दिया है। एक बार जब मैं गया था - प्रगतिशील लेखक संघ के अधिवेशन में ग्वालियर, तो एक हरिहर द्विवेदी जी मिले थे। उन्होंने ग्वालियर के इलाके पर बहुत ही प्रामाणिक कार्य किया था। अब इस तरह से एक-एक जनपद में जाइए तो एक-एक जननायक मिलेगा, जिसने अपने इलाके में उस समय नवजागरण को मूर्त किया था। यही लोग थे, जो नवजागरण कर रहे थे। तो उनके बारे में थोड़ी-बहुत सामग्री जुटाकर भी तत्कालीन समय की हलचलों को देखा-परखा जा सकता है। सिर्फ 'काऊ बेल्ट', 'काऊ बेल्ट' कहकर आधुनिक और प्रगतिशील बनने से काम नहीं चलेगा। तीसरी बात यह कि नवजागरण पर विचार करने के पहले सन् १८५७ वाला जो मुद्दा है, उसे बार-बार झुठलाने से वह मिट नहीं जाएगा। वह भारतीय जनता का संघर्ष था। देखिए, हिंदी भाषी प्रदेश ऐसा नहीं था कि आसानी से उसने घुटने टेक दिए। विचार करना चाहिए, आखिर क्यों नहीं विकास हुआ हिंदी प्रदेशों का ? गौर कीजिए इस क्षेत्र में कोई बंदरगाह नहीं था। सन् १७६४ में अंग्रेज़ जब जीत जाते हैं, बक्सर में मीर कासिम से तो भी यहाँ की जनता उनको सन् १८५७ तक चैन नहीं लेने दी। ज़बरदस्त संघर्ष उनको झेलना पड़ता है। बिहार में तिलका माँझी का सन् १७८१ से १७८४ ई. तक विद्रोह चलता है। चेरों का १८०७ ई. में विद्रोह होता है, दुखन माँझी का सन् १८११ में हुआ, मुंडा उरांव का १८१२ ई. में। सिद्धू, कान्हू, चाँद और भैरव, १८५५ ई. तक लगातार लड़ते रहे। आश्चर्य है अंग्रेज़ी दां महान इतिहासकारों की नज़र में इनका विद्रोह

स्वाधीनता का संघर्ष नहीं था। मैं बुंदेलखंड के बारे में देख रहा था तो कोई एक ठाकुर थे, जिन्होंने १८५७ ई. के बहुत पहले सन् १८४२ के आसपास भारी संघर्ष किया था - अंग्रेजों से। तो ऐसी बात नहीं थी कि यह 'काऊ बेल्ट' था और इसमें लड़ने की परंपरा नहीं थी। लड़ते रहते थे लोग।

दूसरी चीज़ की भारतेन्दु ने १८६८ ई. में जब पहली पत्रिका निकाली तो उसके पहले हिंदी में पच्चीस पत्रिकाएँ निकल चुकी थीं। भारतेन्दु का जन्म सन् १८५० में होता है और १९८५ ई. में निधन हो जाता है। १७ साल की उम्र होती है तो वे, सन् १८६८ में 'कवि वचन सुधा' निकालते हैं। १७ साल में नवजागरण का काम करते हैं, या काम करने योग्य होते हैं। अब देखिए, रामविलास जी भी भारतेन्दु के पूर्व प्रकाशित पच्चीस पत्रिकाओं को अपनी विचार परिधि में नहीं लाते। हम ऐसा क्यों नहीं करते ? कहाँ से करेंगे, मिलेगा, हम खोजेंगे-तलाशेंगे, तब तो ? इसकी फुर्सत किसको है। हमें तो चट से किसी संस्थान से दो साल का फेलोशिप ले लेना है। दो साल में नवजागरण को दुरुस्त कर देना है। यह सिद्ध कर देना है कि यह 'हिंदू नवजागरण' था। दरअसल हमारा तो व्यवसाय बन गया है नवजागरण ! बौद्धिक व्यवसाय है, विलास है। अच्छा तो रामविलास जी की टाँग तोड़नी है फिर प्रहार नवजागरण पर करना ही है। दिक्कत यह है कि रामविलास जी को कई टाँगें हैं - अपनी टुच्ची क्षमता। ऐसे लोगों के सामने यही सब प्रॉब्लम आ जाता है।

सबसे पहले हम इस पर विचार करें कि सन् १८५७ के पहले क्या प्रॉब्लम थी ? उस समय भारत की क्या स्थिति थी ? १८४२ ई. में थॉमस मुनरो की रिपोर्ट छपी थी। उसे यह जानकारी चाहिए थी कि भारत में कितने मज़दूर हैं, वे कहाँ मिलेंगे ! क्यों उसे मज़दूर की ज़रूरत आन पड़ी। इस पर हम बाद में चर्चा करेंगे। रिपोर्ट के अनुसार कोई मज़दूर नहीं था। उनकी एक भी संख्या नहीं थी। सन् १८८१ में जाकर ७५ लाख की संख्या होती है। १८४२ ई. में जब रिपोर्ट आती है तो मज़दूर उसे नहीं मिलते हैं। वही सन् १८८१ में ७५ लाख मज़दूरों की संख्या पहुँच जाती है। अंग्रेज़ी शासन प्रगतिशील था, आधुनिक था कि क्या था, यह बेकार का विवाद है। उस समय वस्तुस्थिति क्या थी, इसको तो जानना चाहिए। उससे न तय होगा !

यह महत्वपूर्ण कारण था। यह वही काल था - जब मेकॉले यहाँ पहली बार आया था। उनकी नज़र यहाँ पर जैसा कि हमारे बड़े भाई डॉ॰ अजय तिवारी ने बताया, हमारे बड़े भाई भी कभी-कभी अतिरेक कर देते हैं, उनकी दो चीज़ें मैं उनको लौटा दे रहा हूँ - एक तो डॉक्टरेट, मैंने किया ही

नहीं है। और दूसरा - आदरणीय, और तीसरा - विद्वान, ये तीनों वे अपने साथ दिल्ली लेते चले जाएँ। बाक़ी अपना प्रेम जो है वही मेरे लिए दे दें। ... तो उस समय थॉमस मुनरो ही नहीं मैकाले भी आया था। तो उनकी चिंता यह थी कि भारत कैसे उनके लिए एक हैलीपैड बने। उनको भारत की ही चिंता नहीं करनी थी, ब्रिटिश हुकूमत के खिलाफ़ साम्राज्यवादी हिस्सेदारी की लड़ाई रूसी ज़ार भी लड़ रहा था। वह भी कुछ देशों पर कब्ज़ा करना चाहता था और इधर ब्रिटेन के पास और भी कई गुलाम प्रदेश थे। बहुत बड़ा भूगोल था - ब्रिटिश सत्ता के पास। सूरज नहीं डूबता था। उसको उन देशों में भी इंतज़ाम करना था। इसीलिए मुनरो और मैकाले को लगा कि यहाँ पर जो आदमी है, उसमें मेरे काम का भी चाहिए। इन तमाम मुद्दों पर योजनाबद्ध तरीक़े से पाँच वर्षों तक विचार हुआ।

मैकाले सन् १८३० में आता है और १८३५ ई. में जाकर प्रस्ताव पास होता है - मैकाले का। मैकाले का प्रस्ताव पास हो जाता है, विश्वविद्यालय खुल जाते हैं। यहाँ यह कहा जाता है कि अंग्रेज़ों ने इस देश का विकास कर दिया, इसे सभ्य बना दिया। ज़रूर किया अंग्रेज़ों ने। फोर्ड विलियम कॉलेज में उन्होंने भाषा पढ़ानी शुरू कर दी। भोजपुरी तक पर काम हुआ। अब विचार इस पर करना चाहिए कि वे क्या काम कर रहे थे, क्या नहीं, उनका एक अपना निश्चित लक्ष्य था। वे अगर दूरगामी सोचकर अपना काम नहीं करते, तो कैसे काम चलता ? आप ध्यान दें - ईसाई मिशनरियाँ उसी काल में आती हैं। अब मिशनरियाँ जब भोजपुरी समाज में जायेंगी तो वहाँ अंग्रेज़ी से कैसे काम चलेगा ! हिंदी से भी पूरी तरह कारगर काम होने से कसर रह जाती। इसीलिए उनको भोजपुरी तक उतरना पड़ा। तो उनको अपना लक्ष्य पूरा करना था, कैसे करना था - इसे वे अच्छी तरह सोच समझ कर तय करते थे। इसलिए उनको बिना सोचे-समझे प्रगतिशील ठहराने से बचना चाहिए। वे अपना दूरगामी स्वार्थ साध रहे थे और आप उससे भारतीय जनता का हित सिद्ध कर रहे हैं, यह अजीब तमाशा है भाई कि अंग्रेज़ों के विकास की बात करने लगें। क्या हम इस बात पर विचार कर रहे हैं कि हमने कैसे विकास किया ? हम तो अभी इस बात पर विचार कर रहे हैं कि हमारे समाज में अंग्रेज़ों की क्या भूमिका थी ? हम भारतीय समाज की मनोदशा और उसके जीवन की वास्तविकता पर विचार कर रहे हैं।

अब, आप सन् १८५७ के संघर्ष को देखें - जो लगभग दो साल चलता है और यहाँ पर ब्रिटिश कंपनी से सत्ता, विक्टोरिया रानी के हाथों में आती है - पहली बार। अब आप सन् १८५७ के इन दो वर्षों तक चले संघर्ष

की अनदेखी तो नहीं न कर देंगे। आप यह तो देखें कि प्रगतिशील और आधुनिक अंग्रेजों ने इस संघर्ष को किस बेरहमी से कुचला। मानवता की धज्जियाँ उड़ाते हुए वे दमन के किस स्तर तक उतरे। किस इलाक़े में क्या किया गया था इसकी एक झलक 'आँखों देखा ग़दर' और सीताराम पांडे की आत्मकथा में देखिए। अनेक लोमहर्षक प्रसंग हैं, जो लिखित, अलिखित बिखरे पड़े हैं। खुद पटना के बाँकी पुर से पत्थर की मस्जिद तक, लगभग डेढ़ किलोमीटर तक सड़क के दोनों ओर जगह-जगह सिर काटकर लाशें टाँग दी गई थीं। गाँवों में दहशत फैलाने के लिए संघर्ष करने वाले का सिर काटकर धड़ बरगद के पेड़ से लटका दिए गये थे। बिहार में सन् १८५७ का पहला शहीद पीर अली था। हिंदू नवजागरण है कि मुसलमान नवजागरण - इस पर बाद में विचार कीजिएगा - दोनों एक ही समाज में थे। अत्याचार दोनों झेल रहे थे, ज़ाहिर है प्रतिकार भी दोनों ने मिलकर किया। अब पीर अली को लीजिए। वे बैकवर्ड मुसलमान थे। अब तो शहीदों के बारे में बैकवर्ड-फारवर्ड बताना पड़ता है। आजकल के समय में कि, हमारे पूर्वज में कौन बैकवर्ड थे, कौन फारवर्ड। इस तरीक़े से तो हम नवजागरण पर विचार कर रहे हैं।

ज्योति बा फुले और बाल गंगाधर तिलक - दोनों की नवजागरण में अपनी-अपनी भूमिकाएँ थीं, अपना-अपना आंदोलन था। उस समय समाज में, भारतीय समाज में कई चीज़ों की ज़रूरत थी। उसमें कुछ पक्ष ऐसे भी थे, जिस लक्ष्य को पाने के लिए राजभक्ति के समीप रहना ज़रूरी था। ज्योति बा फुले का उद्देश्य समाज की ज़रूरतों से ही बना था। अलग फ्रंट पर काम कर रहे थे फुले-महात्मा फुले। अलग फ्रंट पर काम कर रहे थे तिलक! आज दोनों हमारे बाप हैं। अगर यह बोध है आपको, तब तो हिंदी नवजागरण पर विचार कीजिए, नहीं तो सिर्फ़ अपनी जाति की दुकान क़ीमती करने के लिए पूर्वजों की तलाश है, तो बात अलग है। यह आपकी ज़रूरत और स्वार्थ की बात है। अगर वाक़ई आज के भारतीय समाज से आपके सरोकार सच्चे हैं, आप निर्दोष मत से मौजूदा हालात को सार्थक और रचनात्मक बदलाव देना चाहते हैं तो अपने दृष्टिकोण को बदलिए और यह मानिए कि फुले भी हमारे पूर्वज हैं और तिलक भी हमारे ही पूर्वज हैं। यह बात हमें याद रखनी चाहिए कि नवजागरण भी एक गतिशील प्रतिक्रिया है। ऐसा नहीं कि भारतेन्दु या फुले उठे, सक्रिय हुए और नवजागरण कर दिया। हमें उनके कार्यों और विचारों को आज के आलोक में देखना होगा। अब फुले को लें। उन्होंने एक जचकी आश्रम खोला था। उसमें कोई भी गर्भवती औरत आकर बच्चा जन सकती है और जब तक चाहे रुक सकती है। उस समय जो कुलीन ब्राह्मण समाज था,

वहाँ बाल विवाह तो था लेकिन विधवा विवाह का चलन न था। दूसरे समाज में तो पुनर्विवाह की गुंजाइश भी थी, मगर ब्राह्मण समाज बुरी तरह रूढ़िग्रस्त था। ज़ाहिर था ब्राह्मण समाज में ही विधवा और उसके गर्भधारण की समस्या थी। ऐसी औरतें हैं तो घर से निकालो, वरना ब्राह्मणत्व की मर्यादा खत्म हो जाएगी। तो यह समस्या समाज में थी - भले ही वह जाति विशेष में ही क्यों न हो। आप उस विधवा औरत की कल्पना कीजिए - जो गर्भवती होकर ससुराल या पिता के घर से निकाल दी गई हो ! ऐसी औरतों के लिए ही उन्होंने खोल दिया आश्रम - जचकी सेवाश्रम ! अब आप एक बात बताइए कि उन्होंने ऐसा आश्रम खोलते समय दलित स्त्री और ब्राह्मण स्त्री में कहाँ फ़र्क़ किया ? वे वाक़ई महात्मा थे, इसलिए उनमें ऐसी भेदभरी दृष्टि थी ही नहीं। वे उन तमाम औरतों के पिता बन जाते थे। उनका जो भौतिक संपत्ति का वारिस बना, वह भी एक ब्राह्मणी का बेटा था। कल्पना कीजिए अगर आज का दलितवाद रहता तो कहता कि "कौन विधवा है ? अच्छा, ब्राह्मण की है, मरने दो उसको। या भोग करने के लिए रखल बना लो, धंधे में धकेल दो।"

इस दृष्टिकोण के वे लोग नहीं थे। इसलिए फुले को सिर्फ़ दलित हितैषी मानकर हम आज दलितवाद का व्यवसायीकरण करें, व्यापार करें, अपना भौतिक हित साधे तो इससे बड़ा अपमान - उनका दूसरा कुछ हो नहीं सकता। ठीक उसी तरह सवर्ण ग्रंथि से ग्रस्त महात्मा फुले को अपने महान पूर्वज न मानकर उपयुक्त सम्मान न दें, तो यह जड़ता और उदंडता का उदाहरण होगा। आपको-हमको अब आज के समाज को बदलने के लिए सक्रिय होना होगा तो महात्मा फुले के पास जाना ही होगा। उनके आदर्शों को अपनाना ही होगा। उनके विचारों के पीछे जो मनोभाव हैं - उसको परखना होगा। उन पर विचार करना होगा। आज हमको यह सुविधा है क्योंकि हम इतिहास में उनके बाद खड़े हैं। हमारा सामान्य बोध और हमारी वैचारिक क्षमता ज़्यादा विकसित है। मैं यहाँ ख़ास तौर से यह कहना चाहूँगा कि हमें लोगों की यह मानसिकता भी बदलनी चाहिए कि 'हमलोगों का युग बड़ा गया-गुजरा है, पिछला वाला बड़ा अच्छा था। इतिहास की लाश ढोकर कोई भी समाज कभी ऊपर नहीं उठ सकता। हमें समाज में संग्रह-त्याग का विवेक विकसित करना ही होगा। परंपरा से हमारे रिश्ते अपने समय और समाज के सरोकारों से ही तय होने चाहिए, संग्रह त्याग का विवेक हर हाल में अनिवार्य है। इसमें कोई और गुंजाइश है ही नहीं। वैसे आज तो नवजागरण लाने के लिए एन० जी० ओ० का सिस्टम चला हुआ है। एक से एक नायाब तरीक़े

चल रहे हैं, विचार और बहस चल रही हैं, ऐसे में हिंदी नवजागरण के प्रति हिंकारत की बात, विरोध की बात या नवजागरण को प्रदूषित और विकृत करने का प्रयत्न कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

इसलिए अब हम अपने उन पूर्वजों के पक्ष पर गौर करें कि आखिर वे नवजागरण कैसे करते थे ? आप देखिए हिंदी में जो भी नवजागरण करने वाले थे उनके पास एकदम अविकसित हथियार था - हिंदी ! हिंदी उस समय किस दुर्दशा में होगी ? इसका आप अनुमान कीजिए। आज भी कौन अच्छी दशा में है ? आज तो हमें पाँच सौ और एक हजार पत्रिका या पुस्तक बेचने में ढेर सारे कर्म-कुर्म करने पड़ते हैं लेकिन उस समय ? तब तो भाषा भी दयनीय स्थिति में थी और उसको बोलने वाले भी। यह सोचकर अजीब लगता है कि आज लेखक आपस में अंदर ही अंदर एक-दूसरे से लड़ते रहते हैं और पैसे, प्रसिद्धि के लिए उद्ग्रीव होकर जहाँ-तहाँ धक्का देते चलते हैं। वे यह नहीं सोचते कि उनकी किताबों के संस्करण, जो पाँच सौ, छः सौ, या हजार - इससे ज़्यादा छपने का सौभाग्य कम पुस्तकों को मिलता है। आप सोचिए, एक अरब एक करोड़ की आबादी में अगर आपकी पुस्तकों के दस संस्करण भी हो जायं, तो पाँच नहीं दस हजार लोगों तक हम पहुँचते हैं। इतने लोग तो एक गुंडे को भी जानते हैं। हमारी औक्रात क्या है कि इतना अहंकार पाल लड़े जा रहे हैं।

तो उस समय की हिंदी, जो भाषा बनी ही नहीं थी, उसको बनना था, बनाना था। यहाँ यह भी बात है कि हिंदी को ही क्यों बनना ज़रूरी था ? इसलिए बनाना ज़रूरी था क्योंकि वही एक भाषा थी, जो विभिन्न लोक भाषाओं से बन रही थी। मसलन आज़ादी के संघर्ष में जनता एक भाषा को बना रही थी। वही है - हिंदी। इसका पैदाइशी स्वभाव है - सह-अस्तित्व का। हिंदी के किसी एक लेखक का नाम आपलोग बता दीजिए, जो सांप्रदायिक रहा हो और हिंदी में उसको इतिहास का गौरव मिला हो ? संभव ही नहीं है। संकीर्ण और सांप्रदायिक लेखक जीवन भर हिंदी में लिखता रहे - वह हिंदी का लेखक ही नहीं होगा। हिंदी की प्रकृति, ऐसी है ही नहीं। उसका स्वभाव ही था, काम ही था फैलना, वह जनता की बनाई भाषा थी - जिसमें विभिन्न समाजों का अवदान था। कहते हैं हिंदी मर रही है - घेंवड़ा मर रही है। किसकी औक्रात है हिंदी को मारने की ? इसको मारने के लिए हिंदी समाज को मारना होगा, भारतीय समाज को मारना होगा। आप इसके साथ छल कर सकते हैं - कीजिए। अगर आप कुछ नहीं करेंगे तो हिंदी मर जाएगी, तो मत कीजिए। आपमें जितनी कूबत है, जो भर दूह लीजिए। हिंदी की चिंता छोड़िए,

वह अपने समाज, अपने नायकों के बूते आज दुनिया की तीसरी बड़ी भाषा है। वह दुनिया के अनेक देशों में पहुँच चुकी हैं, पहुँच रही है। उसे अब अपने अस्तित्व की लड़ाई नहीं लड़नी। वह ब्रिटिश साम्राज्य से लड़कर करोड़ों लोगों की मुक्ति भाषा का गौरव हासिल कर चुकी है। आज भी वह अनेक मोर्चों पर अपने वृहत्तर समाज की बेहतरी के लिए लड़ रही है।

तब यह है कि संकट ज़बरदस्त है। पूरे समाज पर संकट है, देश और दुनिया पर संकट है। वह संकट है - पूँजी के प्रभाव का। न्यूयार्क में किसी व्यस्त जगह पर एक टॉवर है - बिज़नेस टॉवर। वहाँ लिफ्ट या अन्य ज़रूरी जगहों पर जो लिखा गया है - वह बाईलिंगुअल है। गुजराती और अँग्रेज़ी में। इसलिए, क्योंकि बिज़नेस टॉवर पर गुजराती पूँजी का प्रभाव है। पूँजी तय कर देगी भाषा। आपको कहता हूँ, आप आज ही कर दीजिए न ! कि लोकभाषाओं में किसी एक के पछे रखने से आई० ए० एस० में आना आसान हो जाएगा। फिर देखिए, ये लोकभाषाएँ कितनी क़ीमती हो जाएँगी। उनका अचानक तेज़ी से विकास होने लगेगा। हिंदी को रौंदने वाले या उसका दोहन करने वाले इतिहास में खो जाएँगे, मगर हिंदी को वे कभी मिटा नहीं पाएँगे। सीमा पर शहीद होता रहता है आदमी, फिर भी देश की माँगे बच्चों को पैदा करती रहती हैं - शहीद होने के लिए। यह सिलसिला चलता रहता है उसी तरह से हिंदी का सिलसिला भी चलता रहेगा। हम इसको लेकर कभी चिंतित नहीं होते, कभी खिन्न नहीं होते। अब हम फिर मूल बात पर आएँ।

तो इतनी पत्र-पत्रिकाएँ निकलती थीं, कैसे निकलती थीं ? उस दौर में जो पत्र-पत्रिकाएँ निकलती थीं तो उसमें लेखक अपना पैसा लगाता था, जुटाता था। खुद लिखना, कंपोज़िंग करना, छापना और बेचना। उसे ख़रीदने वाले और पढ़ने वाले कौन थे ? कुछ लोग कहते हैं कि रामविलास जी आठ-दस लेखकों को लेकर नवजागरण नवजागरण करते रहे। अरे भाई, जो पत्रिकाएँ छपती थीं, वह कहाँ जाती थीं ? उसे कौन लोग पढ़ते थे ? अब हम इसे भी थोड़ा देखें, तब पता चलेगा कि आठ लोग थे कि दस लोग थे। पहली बात तो यह कि हिंदी नवजागरण में ऐसा एक भी लेखक नहीं है, जिसने कोई न कोई संगठन नहीं बनाया। बिना संगठन का कोई लेखक न था। भारतेन्दु ने संगठनात्मक रूप से अनेक कार्य किए थे। स्त्रियों के लिए स्कूल खोलने, होमियोपैथी की दुकान खोलने से और कितना कुछ सबसे नाम याद नहीं। शिवनंदन सहाय वाली जीवनी पढ़िए। राधाचरण गोस्वामी का अलग संगठन था। वे तो कांग्रेस के बाजाप्ता कार्यकर्ता थे। उन्होंने तो अपनी सक्रियता से आंदोलन खड़ा कर दिया था। जब मालवीय जी ने सन् १८८५ में बंबई से

ह्यूम का कांग्रेस प्रस्ताव लेकर पहली बार इलाहाबाद में जो बैठक की थी, उनमें तीन तो हिंदी के लेखक थे। एक बालकृष्ण भट्ट थे, एक उनके रिश्ते में भाई और तीसरे राधामोहन गोकुल थे। प्रतापनारायण मिश्र का संगठन कानपुर में था तो प्रेमधन जी का मिर्जापुर में। तो सबके संगठन होते थे। प्रेमधन के संगठन के ही एक सदस्य थे रामचंद्र शुक्ल। मुरादाबाद का अलग मंडल था। पटना के गाय घाट में राधा लाल गोस्वामी का अलग ! मैं कह न रहा हूँ - नवजागरण पर नब्बे प्रतिशत काम होना बाक़ी है। लेकिन दिल्ली से नवजागरण के विरुद्ध काँव-काँव पूरे देश में फैलाया जा रहा है। यह अजीब बलजोरी है।

पटना में खड्गविलास प्रेस था। नवजागरण का क्रांति-केन्द्र ही था। उसके स्वामी बाबू रामदीन सिंह भारतेन्दु के मित्र थे। संभवतः उन्होंने पहली बार भारतेन्दु की ग्रंथावली छपी थी। पत्रिका के अलावे अनेक पुस्तकें प्रकाशित कीं। वहीं प्रतापनारायण मिश्र की भी पुस्तकें छपीं। उसी परिवार के दामाद हैं डॉ॰ धीरेन्द्रनाथ जी, पराड़कर जी के शिष्य और साधक पत्रकार पारस बाबू के सुपुत्र। उन्होंने खड्गविलास प्रेस की भूमिका पर महत्वपूर्ण शोध किया है। बिहार राष्ट्रभाषा परिषद से छपी है, आप पढ़ें और देखें कि उस काल का एक संस्थान कितना सक्रिय था ! पटना में एक और केंद्र था - गाय घाट में स्थित चैतन्य पुस्तकालय। भारतेन्दु पटना आते तो वहाँ ज़रूर ठहरते थे। वहाँ के संचालक थे राधाकांत गोस्वामी। राधाचरण गोस्वामी के परिवार से जुड़े। वहाँ उस दौर की लगभग सारी पत्रिकाएँ आती थीं। बीस-बाईस लोगों का वहाँ भी जुटान होता था। बहस होती थी। वह भी बड़ा हलचल वाला केंद्र था। वहाँ मैंने शतरंज से मिलता-जुलता अतरंज देखा था - जो भारतेन्दु का प्रिय खेल था। भारतेन्दु की भेंट की गई कई दुर्लभ वस्तुएँ मैंने देखी थी। वहाँ की तमाम पत्रिकाओं को मैंने एक मित्र की मदद से संरक्षित कराया था, मगर इसी साल फिर गया तो देखकर अंदर से मरमरा उठा। कुछ भी बचने वाला नहीं था। हम फैलोशिप लेकर नवजागरण को दूषित करने में लगे हैं और नवजागरण की मूल थाती नष्ट हो रही है। आप सोचिये यह कैसी विडंबना है ?

देखिए एक बात मैं साफ़ कर दूँ - हमने भी नवजागरण साहित्य को बहुत देखा-ओखा नहीं है। हम भी चूँकि नवजागरण की मज़दूरी करते हैं, हिंदी से मेरा पेट पलता है, मेरे बाल-बच्चे पलते हैं तो कुछ वर्षों तक हमने इसके भंडार घर में झाड़ू-बुहारू का काम किया है। इसी बूते जो और लोग देखे हैं, वे लोग जो इसका सौदा कर रहे हैं, उनको मैं पहचान लेता हूँ। बस, इतनी ही

पूँजी है मेरे पास। हमने भी कोई बहुत अध्ययन-वध्ययन नहीं किया है, वह तो दिल्ली वाले करते हैं। हम तो मज़दूर हैं। ख़ैर! तो मैं कह रहा था कि भारतेन्दु की पत्रिका निकलने के पहले लगभग पच्चीस पत्रिकाएँ हिंदी में निकल चुकी थीं। और आज हाल यह है कि अगर दिल्ली से कोई पत्रिका न निकले, दिल्ली से कोई विचार न उगे तो उसे कोई अहमियत नहीं मिलने वाली। और वह एक ऐसा काल था - जब हिंदी का एक दैनिक 'हिन्दोस्थान' कालाकांकर जैसे कस्बे से निकला। हमको नवजागरण पर काम के दौरान ऐसी भी पत्रिका मिली है - जिसमें गाँव और डाकघर अलग-अलग हैं। इतनी सारी पत्रिकाएँ! भारतेन्दु के जीवनकाल में ही हिंदी पत्रकारिता का व्यक्तित्व निखरने लगा था। इतनी मोटी किताब है, पत्रिकाओं की सूची की। नवजागरण काल में कितनी पत्रिकाएँ निकली - इसका विवरण है। हज़ार से अधिक पत्रिकाएँ निकलीं नवजागरण में। उसमें सौ तो कम से कम अत्यंत मूल्यवान थीं। एक को भी हम सुसंपादित कर सामने नहीं लाए। सिर्फ़ भारतेन्दु और उनके कुछ सहयोगियों की उपलब्ध पुस्तकों से बात नहीं बनेगी। नवजागरण का बहुत विशाल वाङ्मय है। मैंने क्रायदे से उस दौर की सिर्फ़ एक पत्रिका देखी है - 'सार सुधा निधि!' उसके कुल लगभग छः सौ अंक निकले थे और छः सौ अंकों में सिर्फ़ डेढ़ सौ अंक ही मुझे मिले थे। उसमें मुझे मध्यप्रदेश के कुछ जगहों से छपे पाठकों के पत्र देखने को मिले। पत्र क्या थे - लेख ही कहिए 'प्रेरित पत्र' नाम से कॉलम था, उसी में छपते थे। एक देवास से था, सागर से था और रीवा में तो नवजागरण के एक आचार्य भारतेन्दु के दोस्त ही बैठे हुए थे - कार्तिक प्रसाद खत्री। वे बड़े क्रांतिकारी आदमी थे, उसके बाद जबलपुर से सरजू प्रसाद मिश्र थे। ये लोग उस पत्र में नियमित लिखते थे। बेशक ये हिंदू थे। जब स्वामी दयानंद से आर्यसमाज से, सनातन की लड़ाई छिड़ी तो जम कर लड़ाई हुई। पृष्ठ के पृष्ठ रंगे मिलते हैं। विपुल लड़ाई हुई - इसका साहित्य तो एक हिस्सा है उसका। गोवध पर भी सामग्री छपी है, लेकिन गोवध पर विचार करते हुए कुछ और पक्षों पर भी ध्यान देना चाहिए। क्योंकि भारत में जो पशु धन था - वह पशु धन गुलाम भारत में भी दुनिया के कई देशों से बहुत ज़्यादा था। ईसाई धर्म को सत्ता से संरक्षण था। उसके प्रसार की ज़बरदस्त कोशिशें थीं, ढेर सारी सुविधाएँ दी गई थीं। उसके प्रसार के लिए हिन्दू-मुसलमानों को लड़ाना था, एक-दूसरे से अलग करना था। सांप्रदायिक दंगे होते ही नहीं थे, हिंदू-मुसलमानों के बीच तनाव ही नहीं थे तो भारतेन्दु या उनके सहयोगी इस पर क्यों विचार करते? सांप्रदायिक दंगों की शुरुआत तो १८८५ में काँग्रेस स्थापना के बाद होती है,

भारतेन्दु के मरने के बाद। जब दोनों के बीच विवाद ही नहीं था, तब इस पर विचार ही करना बेकार है कि वे हिन्दुवादी थे। विवाद होता है, तब न आप विचार करते हैं। विवाद तो सुनियोजित तरीके से पैदा किया गया, कराया गया। क्यों कराया गया? इसलिए कि सन् १८५७ में दोनों समुदायों ने मिलकर ज़बरदस्त राष्ट्रवादी धारा पैदा कर दी थी।

राष्ट्रवादी के उभार को खत्म करने के लिए यह ज़रूरी था। ईसाई धर्म मानने वालों में अंग्रेज़ों से लड़ने वाले कितने स्वाधीनता सेनानी मिलते हैं? १८६० ई. में सर सैयद अहमद का भाषण पढ़िए, वे हिंदू, मुसलमान और ईसाई को एक मानते हैं। उनमें कैसे बदलाव आया, क्यों आया, ये सारी बातें इतिहास की कोई अनबूझ पहली नहीं रह गई है। तो जिस गोवध की सामग्री की चर्चा होती है, वह है। गायें बड़ी संख्या में काटी गईं। इतनी अधिक की महारानी विक्टोरिया ने वायसराय को पत्र लिखा कि मुगल काल में जितनी गायें नहीं काटी गई होंगी तुमने उससे ज़्यादा गायें इतने कम वर्षों में की क्यों कटवा डाली? ज़ाहिर था हिंदू जनमानस को उत्तेजित करना था। उसे नीचा दिखाना था। मुसलमानों के रहनुमाओं को सत्ता से सांटकर उनसे सांप्रदायिक माँगें उठवाना और उसे मान लेना। यह ब्रिटिश सत्ता की एकदम 'कलकुलेटेड' नीति थी। ये विचित्र विचारक हैं। ऐसे यथार्थ के बावजूद वे भारतीय जनता को संकीर्ण और सांप्रदायिक ठहराते हैं और अंग्रेज़ों को प्रगतिशील और आधुनिक ! यह बौद्धिक पाजीपन नहीं तो और क्या है?

लेकिन गाय का मामला सिर्फ़ धार्मिक नहीं था - यह पशु धन से भी जुड़ा था। गाय आय का स्रोत थी। कृषि आधारित समाज में तब पशु धन की बड़ी अहमियत थी। आज भी गाँवों में कई परिवारों की जीविका का आधार पशु धन ही है। उसको खत्म करना था। क्यों खत्म करना था? इसका एक दूरगामी लक्ष्य था। उस समय अंग्रेज़ों को दुनिया के अनेक टापुओं को आबाद करने के लिए मज़दूरों की ज़रूरत थी। सन् १८६८ से लेकर १८८५ ई. के बीच की तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं को अगर आप पलटिए तो आपको यह पता चलेगा कि लोग फैलोशिप लेकर क्या कर रहे हैं? वे हिंदू नवजागरण की सामग्री तो ज़रूर तलाश लाते हैं, मगर इस पर विचार कीजिए कि वे किस सामग्री को छोड़ देते हैं।

'सार सुधा निधि' में एक संपादकीय छपा था - 'कुली प्रथा' पर। कितने भारतीय मज़दूर कुली उस समय गुयाना, त्रिनिदाद, फीजी, सूरीनाम, मॉरीशस या दूसरी जगहों पर बलात् भेजे जा रहे थे। उन्हें फिर लौटकर अपने मुल्क नहीं आना था। कौन लोग जा रहे थे वहाँ? वही किसान - जो भारी

टैक्स न चुका पाने से, सरकार, ज़मींदार और महाजन के गँठजोड़ से मज़दूर बना दिये गए थे। वे ही लोग जा रहे थे। तो अख़बार लिख रहा था कि अंग्रेज़ों का विचार यह है कि यह दास प्रथा नहीं न है, यह तो कुली प्रथा है। तो हिंदी का अख़बार संपादकीय लिख रहा था कि कुली प्रथा दरअसल दास प्रथा ही तो है। सिर्फ़ नाम बदलकर अंग्रेज़ अपनी नीयत छुपा रहे हैं। अच्छा, वह हिंदी भाषा, वह विचार जिससे वे लोग नवजागरण की लड़ाई लड़ रहे थे, किस अवस्था में थी? इस पर भी विचार कीजिए। उसको पढ़ना आज तो और दुष्कर है, एक पेज पढ़ने में गड़बड़ा जाता है मामला। ऐसी भाषा, जो ठीक से भाषा ही नहीं बनी थी, पर उसमें निकलने वाले अख़बार अपने समाज की आवाज़ उठा रहे थे, रद्दी-सद्दी ढंग से ही और उस पर प्रेस-एक्ट लागू हो रहा था। यह नवजागरण नहीं था तो क्या था? ऐसे लोग उस समय भी थे। 'भारत मित्र' ने प्रेस-एक्ट का समर्थन कर दिया लेकिन 'सार सुधा निधि' ने उसका विरोध किया। 'भारत मित्र' ने कहा कि ऐसा करने पर जो कुछ छप रहा है, वह भी नहीं छपेगा। तो कहा कि छपेगा क्यों नहीं, हम विरोध करेंगे। दूसरी बात यह कि हमलोगों को यह भ्रम भी होगा कि हमलोग बहुत पढ़े-लिखे लोग हैं, हैं ही। इसमें तो दो मत नहीं हैं क्योंकि जिस देश में पचास प्रतिशत जनता निरक्षर हो, तो हम लोग पढ़े-लिखे नहीं कहे जाएँगे, तो कौन कहा जाएगा? तो वे लोग जो नवजागरण वाले थे, वे हमसे कम पढ़े-लिखे नहीं थे। इस भ्रम में हमको नहीं रहना चाहिए, एकदम नहीं रहना चाहिए। उनका साहित्य पढ़िए तो पता चलता है कि वे कितने पढ़े-लिखे, कितने जागरूक लोग थे। उनकी पत्रिकाएँ, उनकी पुस्तकें इस बात की साक्षी हैं, प्रमाण हैं।

नवजागरण के लेखकों का काम अंग्रेज़ी से नहीं चल सकता था क्योंकि उन्हें नवजागरण करना था - अनपढ़ जनता के बीच में। उस युग के अधिकांश लेखक कई भारतीय भाषाएँ जानते थे। प्रत्येक लेखक एक से अधिक बोलियाँ, लोकभाषाएँ बोल सकता था, समझ सकता था। उस भाषा में क्या लिखा जा रहा है, क्या सोचा जा रहा है, उससे वह परिचित था। ज़रूरी समझने पर उसका अनुवाद भी करता था। उसे एक धुन थी, कुछ करने की, समाज को जगाने की। इसके लिए वह गाँठियाँ करता था, पत्रिकाएँ निकालता था और लिखता था। क्यों लिखता था? वह आपसे प्रसिद्धि पाने के लिए नहीं कि आप उसको आज नवजागरण का शीर्ष रचनाकार मानेंगे। मत मानिए। उसका उद्देश्य था अपने समय और समाज को बदलने का। कुछ करने का। इसलिए उसको जनता के बीच उनकी भाषा में उतरना था। दूसरी भाषाओं के

लोग, पूरे देश के लोग क्या सोच रहे हैं, पूरी दुनिया में कहाँ क्या हो रहा है, कहाँ नए विचार पनप रहे हैं, इस सबके प्रति अधिकांश जागरूक थे। प्रेमघन पूरे भारतीय वाङ्मय की समृद्ध विरासत की चर्चा करते हैं। जब वे अंग्रेज़ी वाङ्मय से तुलना करते हुए शेक्सपियर पर आते हैं तो मामला गड़बड़ा जाता है कि अब शेक्सपियर का कैसे विरोध करें? तो उन्होंने लिखा कि कालिदास को जब अंततः संस्कृत भाषा में संतुष्टि नहीं मिली तो इस राक्षसी भाषा में भी मूड़ मुंडाने चले गए। वह शेक्सपियर को नकार नहीं सकते थे क्योंकि वे बहुत बड़े रचनाकार थे। मैंने कहा न ! वे दुनिया की क्लासिक रचनाओं से परिचित थे, अपने समय के श्रेष्ठ विचारकों को वे जानते थे, पढ़ते थे।

पत्रकारिता में आप उस दौर की कोई भी पत्रिका लीजिए। आप पायेंगे उसमें सिर्फ़ खबरें ही नहीं रहती थीं, रहती भी थीं तो गली-कूचों से पूरी दुनिया की। आगे चलकर तो स्थिति एकदम बदल गई। पत्रकारिता का स्वर्णिम दौर आया। बीसवीं शताब्दी के दूसरे तीसरे दौर से। उस समय भारत में ही स्वाधीनता आंदोलन नहीं चल रहा था - ३६ देशों में स्वाधीनता आंदोलन चल रहा था। मुंशी नवजादिक लाल ने ३६ पराधीन देशों के स्वाधीनता संघर्ष की गाथा धारावाहिक लिखी। 'चाँद' के मालिक रामरिख सहगल ने 'पराधीनों की विजय यात्रा' नाम से उनकी पुस्तक भी छपी। विश्व में जहाँ जो कुछ हो रहा था, हिंदी अखबारों में छप रहा था। तमाम घटनाओं पर विचारोत्तेजक टिप्पणियाँ छप रही थीं। अंग्रेज़ या योरोपियन कहते थे कि भारतीय एकदम बेकार हैं, वाहियात हैं, उनकी संस्कृति क्या है? तो हिंदी के लेखक उनके देश से छपने वाले अखबारों से उदाहरण देकर उनकी अश्लील और अमानवीय संस्कृति का हवाला देते थे, प्रतिउत्तर देते थे। पढ़िए 'मतवाला' की टिप्पणियाँ! जो भी रचनाकार अखबार निकालता था, उसमें काम करता था, तो कैसे करता था? देश-विदेश के अखबार नियमित मँगवाए जाते थे, उसे पढ़ा जाता था। ख़ास खबरें या घटनाएँ चिह्नित की जाती थी, उस पर सभी चर्चा करते थे। चर्चा के बाद रात को सभी अपने हिस्से का लेखन करते थे, समय मिला तो कंपोज़िंग में भी हाथ बँटाया और दूसरे दिन उसे लेकर बेचने में भी सहयोग किए। इस तरह से सब अखबार निकालते थे, नवजागरण का कार्य करते थे। अब आज आप उनको संकीर्ण कहिए या जनविरोधी। उसी तरह आप नवजागरण के शहीदों को, सिपाहियों को, हिन्दूवादी कहिए या सवर्ण। आपकी जुबान, आपकी मज़ी। इतना ही नहीं, उनको ऐसा कहने वाले अंग्रेज़ों को प्रगतिशील और न्यायवादी भी मानते हैं।

गोया ये नवजागरणवादी नहीं होते, तो ये अंग्रेज़ इस देश को कब का स्वर्ग बना चुके होते।

जिसे नवजागरण पैदा करना था, लोगों को जगाना था, तमाम प्रतिकूलताओं के बावजूद अपनी सक्रियता क़ायम रखती थीं - उनका मूल्यांकन करना आसान नहीं होता। इसके लिए पात्रता होनी चाहिए, समझ और संस्कार होना चाहिए। जो लोग नवजागरण के मोर्चे पर लड़ रहे थे, उनका एक मिशन था, समर्पण था। वे सोद्देश्य काम कर रहे थे, सोद्देश्य लिख रहे थे और सबके सब होलटाइमर थे। हमलोगों की तरह वे नहीं थे कि नौकरी कर रहे हैं और साहित्य कर रहे हैं। प्रसिद्धि के लिए इधर-उधर थोड़ा-बहुत हाथ मार रहे हैं। थोड़ा इनसे संबंध, थोड़ा उनसे संबंध। इनको ठीक-ठाक रखना, उनको ठीक करना, अनेक भाषाओं में अनूदित होना, हर जगह समीक्षित पुरस्कृत होना। इस तरह के टंट-घंट में वे लोग नहीं थे। उनके पास इसके लिए समय ही नहीं था, वक्त ही नहीं था, ज़रूरत ही नहीं थी। वे लोग अपने काम में लगे हुए थे। सदानंद और दुर्गाशंकर मिश्र ने वर्षों, अनेक कठिनायियों का सामना करके पत्रिका के छः सौ अंक निकाले। घर से बाहर रहकर - 'सार सुधा निधि' के सदानंद मिश्र की मौत ग़रीबी और बीमारी से हुई। इनका लिखा आज तक कुछ भी सामने नहीं आया। मगर आप इनकी संपादकीय टिप्पणियाँ पढ़िए, लेख पढ़िए तो माथा चकरा जाएगा। अब आप इनको हिंदू कहिए, सवर्ण ब्राह्मण कहिए - जो मन करे, सो कहिए। हमें उस कीचड़ में नहीं जाना है।

मैं तो कहता हूँ कि दूसरी भाषाओं के लोग हिंदी नवजागरण में क्या कर रहे थे, इस पर भी रिसर्च होना चाहिए। खासतौर से महात्मा गांधी हिन्दू विश्वविद्यालय और जे० एन० यू० में, यह सब बड़े पैमाने पर आसानी से हो सकता है। हमने अमृतलाल चक्रवर्ती के बारे में विचार नहीं किया। चिंतामणि घोष के बारे में विचार नहीं किया, वे नहीं रहते तो 'सरस्वती' पत्रिका ही नहीं निकलती। पराड़कर जी के बारे में हमने क्या काम किया, सप्रे जी के बारे में क्या काम किया? ऐसे और भी लोग थे छोटे-बड़े। भवानी दयाल सन्यासी ने दक्षिण अफ़्रीका से 'हिंदी' पत्रिका निकाली - नेटाल से। ये कैसे लोग थे? दुर्वासा थे आपके अमृतलाल चक्रवर्ती। गए आसाम में अख़बार निकालने के लिए। कोई अंग्रेज़ ईसाई मिशनरी वाला काम कर रहा था, वहाँ के मज़दूरों के बीच। उसने भी अख़बार निकालना शुरू किया। ये दाम घटाने लगे, वह भी घटाने लगा। अंत में अंग्रेज़ ने मुफ़्त कर दिया तो अमृत लाल चक्रवर्ती ने भी मुफ़्त कर दिया। पत्र बंद हो गया तो कहने लगे कि कुछ दिनों के बाद वह भी

बंद कर देगा। ऐसा ही हुआ। फिर वे दूसरी जगह चले गए। बाद में वे बंबई में 'वेंकटेश्वर समाचार' में काम करने लगे।

तो उस युग की सामग्री को लेते समय और उस युग के लेखक पर टिप्पणी करने में थोड़ी सावधानी बरतनी चाहिए। मनुष्य कोई है तो वह बना-बनाया तो निकलता नहीं है, प्रक्रिया हांती है। राधाचरण गोस्वामी थे, उन्होंने 'हिन्दू-बांधव' में लेख लिख, शुक्ल जी ने भी अपने इतिहास में लिखा है। 'हिन्दू-बांधव' के उस लेख में उनके जो तर्क और उनकी जो मेधा थी, उसको देखकर भारतेन्दु चकित रह गए। उन्होंने कहा कि यह आदमी इतना टैलेण्टेड है, इतना प्रतिभाशाली है, और इतना संकीर्ण है, क्योंकि वे एक ऐसे परिवार से आते थे, जहाँ अगर मुँह से उर्दू शब्द निकल गया और अंग्रेज़ी शब्द निकल गया तो घर का सब आदमी पटक देता था उसको, और मुँह में गंगाजल और तुलसी डालता था। वे वृंदावन के एक पंडित परिवार से, गौड़ परिवार से आते थे। अगर ऐसा न करें तो उनकी जजमनिका छूट जाएगी। और जजमनिका पूरे देश में थी इसलिए पूरे देश में वो लोग घूमते थे। पूरे देश में उस समय क्या हो रहा था, सबसे परिचित थे। वे जगह-जगह जाकर भाषण दिया करते थे। हमलोगों की तरह आमंत्रित होकर भाड़ा-वाहन के साथ वे लोग कहीं आते-जाते नहीं थे, नवजागरण के मिशन से आते-जाते थे। तो राधाचरण गोस्वामी जो थे, उन्होंने वह लेख लिखा तो भारतेन्दु को लगा कि बड़ा चक्कर है। तब भारतेन्दु ने एक छद्म नाम से लेख लिखा, जिसमें उनकी बड़ी तारीफ़ की - उनके तर्क और मेधा की, लेकिन विचारों की आलोचना की। तो राधाचरण गोस्वामी ने पता किया कि कौन आदमी है। वे तो दुर्वासा थे, बड़े गुस्सैल आदमी थे, पता चला कि भारतेन्दु ने लिखी है। भारतेन्दु से उस समय बनारस में कोई मिल नहीं सकता था, क्योंकि उनकी जो प्रेमिका थी, उसके यहाँ का आना-जाना था, इस बात को लोग जानते थे। तो भारतेन्दु से मिलने वाला विधर्मी हो जाएगा। गोस्वामी जी के चले काशी में बहुत थे। काशी की स्वीकृति भी महत्त्वपूर्ण थी। रात को जब वह अपने पिता के यहाँ गए, तो पिता ने कहा कि नहीं, मेरे ही कमरे में सोना है। राधाचरण गोस्वामी सोए लेकिन रात को चुपके से उठकर भाग गए। जाकर भारतेन्दु से मिले। अब आप समझिए कि भारतेन्दु और उनसे मिलने वाले राधाचरण गोस्वामी विधर्मी थे कि हिंदू थे। इनको विधर्मी मानने वाले हिन्दूवादियों के साथ हम इनको भी संकीर्ण, संकीर्ण हिंदू मानें कि क्या मानें?

उसी राधाचरण गोस्वामी ने बाद में स्त्रियों की दुर्दशा पर लिखा, उनके लिए आंदोलन खड़ा किया। जिन शब्दों में उन्होंने हिंदू धर्म की

आलोचना की - मुस्तण्डे, पंडे, सड़ गया है इनका दिमाग ! विधवा विवाह का इतना बड़ा आंदोलन खड़ा किया कि मदनमोहन मालवीय जी को संपादकीय लिखकर तारीफ़ करनी पड़ी, प्रशंसा करनी पड़ी। वृंदावन की विधवाओं के जीवन पर उनकी इतनी मार्मिक किताब है कि पढ़कर लोग उद्वेलित हो जायें। उन्होंने जाकर, जो वृंदावन की महिलाएँ थीं उसको देखा। कहा कि तुम कैसे हिंदू हो कि इतनी स्त्रियों को तुम भोगियों को समर्पित कर रहे हो, अपनी बहनों को, इनका पुनर्विवाह नहीं करके। तीसरी चीज़ यह कि यह नवजागरण की प्रक्रिया है। देखिए सब लोग बड़े-बड़े विश्वविद्यालयों के और हमारी हिंदी की शिखा हैं। यह जरूरी है कि उस युग के बारे में विचार करते समय जो सामग्री सामने नहीं आई है, उसका अहसास अपने निर्णय और रिमार्क में रखें। कम से कम उसके बारे में हम न बोलें, इतनी विनम्रता तो रखें। नहीं जानते हैं तो नहीं बोले।

विज्ञान के लिए, एक विज्ञान सभा बनी महेंद्र सरकार की। 'सार सुधा निधि' में छपा कि भारत में विज्ञान का विकास इसलिए नहीं हुआ कि यहाँ पर बुद्धि नहीं थी, बुद्धि बहुत थी, इसकी कमी नहीं थी। लेकिन भारत में विभिन्न धर्म और संप्रदाय थे और उनके आपस में बहस करने में हमारा उन्नत मस्तिष्क लग गया। इसलिए योरोपियनों ने विज्ञान में बाज़ी मार ली। अब हमलोगों को महेंद्र सरकार ने विज्ञान सभा बनाकर, भारतीयों के लिए विज्ञान में भी बाज़ी मारने की चुनौती दे दी है। वहाँ भी लैबोरेटरी अपनी बनानी थी - अपने बूते। मेजर ध्यानचंद ३६ वर्षों तक हॉकी के बेताज बादशाह रहे। गुलाम देश के वे सैनिक खिलाड़ी थे। कोई भी विकास, परिवर्तन बड़ा ही असामान्य होता है, परस्पर विरोधी चीज़ें रहती हैं, उसमें, इसलिए उसको एक रंग, एक ही तरीके से नहीं देखना चाहिए। राजनीतिक रूप से जब हम पराधीन थे तो कई स्तरों पर हम बहुत ज्यादा विकसित थे। राजनीतिक स्तर पर जो हमारा अंधकार काल था, वहीं भक्तिकाल हमारा स्वर्णिम काल भी है।

अगर आप नवजागरण काल के हजारों पृष्ठों से गोवध या ऐसी ही सामग्री लेकर इसे हिंदू नवजागरण सिद्ध करेंगे, तो यह भारतीय समाज खासतौर से हिंदू समाज के संघर्ष और उपलब्धियों की भारी अनदेखी होगी, उसके साथ बेवफ़ाई होगी। किसानों पर भी इतनी रपटें छपी हैं 'सार सुधा निधि' में, जितनी गोवध पर छपी हैं। किसानों पर लंबे-लंबे संपादकीय लेख छपे हैं। उसमें लिखा गया है कि किसानों से साल में चार बार टैक्स लिया जाता है, पत्रिका वायसराय से आग्रह करती है कि अधिक से अधिक दो बार लिया जाय। दोनों फ़सलों के बीच में, क्योंकि बाक़ी समय किसान टैक्स देते

समय सूदखोर बनियों के कब्जे में चला जाता है और फिर जीवन में वह कभी नहीं मुक्त होता है। इसलिए इस बार ध्यान दिया जाय। गौर कीजिए - उन किसानों के लिए, उन मज़दूरों के लिए, जो इस देश को ही छोड़ कर जा रहे थे, या उनसे बलात देश छोड़वाया जा रहा था - उनके लिए यह नवजागरण काल था कि अंधकार काल था ? आप लोग विचार कीजिए। डॉ० रामविलास शर्मा को जो करना था, कर गए। इसी देश के नागरिक को, जिससे आपने देश छोड़वा दिया - इस साम्राज्यवादी व्यवस्था ने इतना निर्मम और जघन्य अपराध किया। इसलिए उन किसान-मज़दूरों से पूछना चाहिए कि तुम्हारे लिए नवजागरण मैंने तय कर दिया है। 'कब है - महाराज !' 'तब है जब तुम अपनी जन्मभूमि छोड़कर बलात जहाज में डालकर सूरीनाम और गुयाना ले जाए गए।' सोचिए कैसा लगेगा उसको? कोई आश्चर्य की बात नहीं, अगर अँग्रेज़ों को भारत का उद्धार कर्त्ता मानने वाले विचारक यह तर्क देने लगे कि ऐसा करके अँग्रेज़ों ने हिंदी को विश्व भाषा बना दिया !

भारतेन्दु १८६८ ई. में नवजागरण के क्षेत्र में उतरते हैं और सन् १८८५ में उनका निधन हो जाता है। १७ साल में नवजागरण के सेनानी बनते हैं और १७ साल नवजागरण को नेतृत्व देते हैं। १९०१ ई. में 'सरस्वती' पत्रिका निकलती है और सन् १९०३ में महावीर प्रसाद द्विवेदी संपादक बनते हैं। विचार कीजिए, संपादक बनते ही, वे युग-प्रवर्तक तो नहीं हो गए होंगे, कुछ वक्त लगा होगा। मान लीजिए कि दो ही साल में वे युग-प्रवर्तक हो गए। तब सन् १९०५ से १९२० ई. तक कुल १५ साल नवजागरण को वे नेतृत्व देते हैं। अब सन् १८६८ से १८८५ ई. तक १७ साल को आपने भारतेन्दु के नाम कर दिया, सन् १९०५ से १९२० ई. तक १५ साल द्विवेदी जी के नाम। मेरी विनम्र जिज्ञासा है कि सन् १८८५ से १९०५ ई. तक, पूरे २० साल का आपने क्या किया ? रामविलास जी, नामवर जी, डॉ० विश्वनाथ त्रिपाठी और डॉ० मैनेजर पांडेय जी, इन बीस वर्षों के इतिहास और नवजागरण के बारे में विचार हुआ? इस बीच हिन्दी में कुछ काम हुआ, कुछ बढ़ा, कुछ आगे गई भाषा? इस पर काम ही नहीं हुआ। इसीलिए मैं इस बात पर जोर दे रहा हूँ पहले मूल स्रोत सामग्री को हम सामने लाएँ। तब यह तय करें कि किसको केंद्र में रखकर बातचीत की जाय।

मैं फिर कह रहा हूँ कि उस काल में जब तमाम स्थितियाँ विपरीत थीं। मुख्य हथियार भाषा अत्यंत अविकसित थी - जब नवजागरण करना आसान नहीं था। किसी पर विचार करते हुए, अंतिम निष्कर्ष रखते हुए हमें

इन सारी बातों का ख्याल रखना चाहिए। गणेश शंकर विद्यार्थी थे, 'प्रताप' निकालते थे और भगत सिंह, चंद्रशेखर आज़ाद की क्रांतिकारी पार्टी को मदद भी करते थे। वे धन उगाहने कलकत्ता आते थे, तो वहाँ के लेखक इनको लेकर राष्ट्रवादी धनिकों के यहाँ ले जाते थे। इस तरह चंदा बटोर-बटोर कर उन्होंने 'प्रताप' निकाला था। ईश्वरी प्रसाद शर्मा थे। उनकी प्यारी बिटिया अचानक मर गई। उनकी पत्रिका कुछ दिनों बाद विलंब से छपी। उन्होंने एडीटोरियल लिखा कि मेरी प्राण प्यारी बिटिया का अचानक निधन हो गया था। इसलिए मैं पाठकों से माफ़ी माँगता हूँ कि मुझको यह पत्रिका आप तक पहुँचाने में कुछ दिनों की देर हो गई। पत्रिका आपको देर से मिली। वह आदमी सांप्रदायिक दंगे में मारा गया। इसलिए नवजागरण को हिंदू नवजागरण कहते हुए, ऐसी शहादतों का भी ख्याल रखना चाहिए। हिंदी भाषी समाज में ऐसे अनेक लोग थे, जिन्होंने उस दौर में नवजागरण के कार्यों में अपना जीवन लगा दिया। उन सब पर काम होना चाहिए और तब इस पर विचार करना चाहिए कि हिंदी नवजागरण, हिंदू नवजागरण था कि क्या था?

एक बात और, नवजागरण पर काम करने वाले या कहिए उनका पक्ष लेने वाले ऐसे अतीत जीवी लोग भी हैं, जिन्हें अपना समकालीन एकदम अपंग और दुर्दशाग्रस्त लगता है। ऐसी बात नहीं है, कविताओं का स्तर देखिए - उस काल में। बाक्री लेखन में भी आपको अधिकांश औसत दिमाग वाले ही लगेंगे। आलोचना के मामले में ही ले लीजिए - शुक्ल जी, हज़ारी प्रसार द्विवेदी जी और रामविलास जी। अरे भाई, इतना बड़ा हिंदी समाज रहा, डेढ़ सौ वर्षों या सौ वर्षों का ही नवजागरण काल मान लीजिए तो मात्र ये ही तीन आलोचक? आज तो पाँच-सात आलोचक हमारे सामने, यहीं उपस्थित हैं, एक शहर में हैं।

तो ऐसी बात नहीं है कि हमारा मस्तिष्क उन्नत नहीं है, लेकिन एक चीज़ थी - मिशन! सामाजिक सरोकार और समय में सक्रियता। यही बात उन लोगों को हमसे बहुत आगे, बहुत ऊँचा ले जाती है। उन लोगों के विचार थोड़े खराब हो सकते हैं, पिछड़े हो सकते हैं, हमारे ज़्यादा विकसित हैं, तो क्या कर ले रहे हैं। अगर प्रतापनारायण मिश्र का स्त्री-संबंधी दृष्टिकोण ठीक नहीं है तो हम उसकी कहाँ तारीफ़ करते हैं? मगर इसी एक कमज़ोरी के कारण उनके योगदान को नकारा तो नहीं जा सकता। प्रतापनारायण मिश्र का अगर स्त्री-विमर्श पिछड़ा हुआ है तो हम उससे

नवजागरण के स्त्री-विमर्श को ही पिछड़ा नहीं कर सकते। इसके लिए आपको राधाचरण गोस्वामी के पास जाना होगा, राधामोहन गोकुल

के पास जाना होगा। दूसरी चीज़ यह कि न तो कोई जनमते शेर बन जाता है और न ही वह दौर ऐसा था। नागरी प्रचारिणी सभा से परिमलेन्दु जी का एक शोधग्रंथ छपा है - 'भारतेन्दु युग के भूले बिसरे कवि।' उसमें लगभग सात सौ कवियों की चर्चा है, जो रीतिकालीन परंपरा में लिख रहे थे। सिर्फ़ एक अपवाद को छोड़कर बाकी सारे कवि घनघोर रूप से अंग्रेज़ों के, उनकी सत्ता के समर्थक थे। सभी राजभक्ति वाले हैं। अब आप ही तय कीजिए कि ऐसे कठिन दौर में अगर भारतेन्दु या उनके अन्य सहयोगियों ने तनिक भी राजसत्ता के विरुद्ध आवाज़ उँची की है तो उसका कितना महत्त्व है। जिन परिस्थितियों में उन लोगों को नवजागरण लाना पड़ रहा था, वह कितनी विषम स्थिति थी! पत्रों का प्रकाशन मुश्किल काम था, उनमें लिखने वालों का अभाव था, बिक्री की समस्या थी, पाठकों का अकाल था, पैसों का खुद जुगाड़ करना था और भाषा - जिसके द्वारा नवजागरण की लड़ाई लड़नी थी, तब बहुत विपन्न थी, अविकसित थी। बावजूद इसके, उस दौर में इन पत्रों ने ऐसी स्थिति पैदा कर दी कि ब्रिटिश हुकूमत को प्रेस-एक्ट लाने के लिए विवश होना पड़ा। अब आप ही उन लोगों के चरित्र की छानबीन कीजिए और निष्कर्ष निकालिए कि भारतेन्दु को ही नहीं उस युग के रचनाकारों की ऐसी पहचान चित्रित करना - गोया वे सारे के सारे अंग्रेज़ों की सत्ता के पिटटू थे। ऐसा कहने वाला, लिखने वाला क्रांतिकारी हिंदी साहित्य के बाहर ही मिलेगा।

बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ से, पहले दशक, फिर दूसरे दशक तक आते-आते हिंदी में नवजागरण की ऐसी फ़ौज खड़ी हो गई, जिसने तीसरे दशक से आज़ादी मिलने तक ब्रिटिश सत्ता को निर्णायक टक्कर दी। तो क्या यह फ़ौज ब्रिटिश सत्ता के चापलूसों ने खड़ी की थी ? अंग्रेज़ों की भक्ति ... अंग्रेज़ों की भक्ति - बहुत ज़्यादा पक-पक लोग बोल देते हैं - राजभक्ति पर। भारतेन्दु जिस घर में पैदा हुए थे, वह अंग्रेज़ों का भक्त परिवार था। उनके पुश्तैनी घर में

ही सन् १८५७ के स्वाधीनता आंदोलन को कुचलने वाले ख़तरनाक हथियार रखे गए थे। जहाँ-जहाँ विद्रोह भड़केगा - यहीं से हथियार जाएगा। सारा माहौल सरकारपरस्ती का था - उसमें उनसे आप कितना विरोध चाहते हैं ? ख़बारते थे भारतेन्दु तो उनकी पत्रिका की सुविधा रोक दी जाती थी। उसकी ख़रीद रोक दी जाती थी। सबकी नज़र थी उन पर। देश में, पूरे देश में, लंदन में - उनके बीसों महत्त्वपूर्ण लोगों से पत्राचार था। दूसरी भाषाओं के लोग उनके यहाँ आते थे, मिलते थे, बात करते थे। वे भी आते-जाते रहते थे। ऐसा आसान नहीं था 'ब्रिटिश सत्ता को उलट देने वाला' विरोध करना। आज

अमेरिका को परास्त कर देने के लिए पूरी दुनिया के लोग क्यों नहीं उठ खड़े हो जाते ? सबके क्रांतिकारी विचार हैं, उन्नत दिमाग वाले हैं तो अमेरिका ध्वस्त कर देने के लिए आप नौकरी छोड़कर होलटाइमरी कीजिए न ! अपने तिकड़म से फैलोशिप लेकर कुटिलता भरे प्रपंच करते रहते हैं और भारतेन्दु की आलोचना इस बात के लिए करते हैं कि उन्होंने ब्रिटिश सत्ता को उलट देने वाले विचार क्यों नहीं रखे। कहते हैं - कुछ नहीं कहते थे तो प्रेस-एक्ट ऐसे ही लागू हो जाता था ? कहा कितना है ? यह तो सामने लाए ही नहीं। जो लाए भी तो मन मुताबिक ! नवजागरण साहित्य में बहुत कुछ कहा गया है, वह विपुल है विपुल है !

उस समय भी अफ़ग़ानिस्तान में युद्ध चल रहा था। वहाँ दिक्कत यह थी कि रूस का ज़ार, अफ़ग़ानिस्तान को जीतकर भारत को कब्जे में करना चाहता था। क्योंकि भारत सोने की चिड़िया थी। रामविलासजी ने लिखा है, खुद नहीं - किसी का कोटेशन दिया है कि जब अंग्रेज़ आए थे, तो मुर्शिदाबाद को देखकर दंग रह गए थे - वह लंदन से ज़्यादा विकसित नगर था। दरअसल उस समय भी भारत के कुछ नगर तो बहुत विकसित थे, कुछ इलाक़े एकदम पिछड़े। तो अंग्रेज़ों की प्रगतिशीलता और आधुनिकता यह थी कि उन्होंने धीरे-धीरे हमारे यहाँ पाँव जमाए, कब्जा किया, हमें ख़ूब लूटा और गरीब बनाया। हमको विपन्न किया और तब हमें कितनी संपन्नता चाहिए - यह तय किया। हमको किस तरह सोचना चाहिए, यह उसी ने तय किया। हम नहीं तय करेंगे, अगर करेंगे तो उनके अनुरूप करेंगे। वे जैसा चाहते हैं, वैसा कीजिए। दुर्भाग्य है कि भारतेन्दु ने ऐसा नहीं किया, नवजागरण वालों ने ऐसा नहीं किया, मगर उनका विरोध करने वाले आज भी यही कर रहे हैं। परंपराएँ सबकी होती है - क्रांतिकारियों की भी, दलालों और द्रोहियों की भी।

मैं यह कह रहा था कि उस समय दुनिया में जो संघर्ष हो रहे थे, जो लड़ाइयाँ चल रही थीं, उसे हिंदी नवजागरण वाले जानते थे। वे समझ रहे थे कि ज़ार शाही, ब्रिटिश शासक से भी ज़्यादा पिछड़ा है। वहाँ की जनता भी उससे संघर्ष कर रही है, लड़ रही है। वहाँ के हालात बहुत बुरे हैं। तो ज़ार के खिलाफ़ चलने वाले संघर्ष पर ये लोग बहुत लिखते थे। 'मतवाला' के चार अंकों में राधामोहन गोकुल का लेख छपा है - 'रूस की अतिक्रांति' पूरा लेख उन्होंने भारत की स्वाधीनता आंदोलन के सापेक्ष रखकर लिखा है। बहुत लंबा लेख है वह ! भारतेन्दु काल में राधाचरण गोस्वामी ने अफ़ग़ानिस्तान समस्या पर बहुत लिखा। वे 'भारतेन्दु' नाम की पत्रिका निकालते थे। उसमें रूस से ज़ार के नाम उनका खुला पत्र पढ़ना चाहिये। 'सार सुधा निधि' में तो इतना

ज़्यादा छपा है कि आपसे कह नहीं सकता। कोई भी आज उसे संपादित करेगा, तो काफ़ी बड़ा हिस्सा उसे हटाना पड़ेगा। नवजागरण के लोग इस बात को अच्छी तरह समझ रहे थे, कि भले ब्रिटिश सत्ता बनी रहे, लेकिन उससे ज़्यादा पिछड़ी ज़ारशाही यहाँ नहीं आए। यह राजभक्ति नहीं, दूरदर्शिता वाली बात थी।

‘सार सुधा निधि’ में अफ़ग़ानिस्तान संबंधी लेखों में वे लोग इस बात का विरोध करते थे कि अफ़ग़ानिस्तान में अगर रुस से लड़ रहा है - हमारा सैनिक तो उसके लिए टैक्स भारतीयों पर क्यों लगे ? भारतीयों पर उसका कर नहीं लगना चाहिए। भारतीयों पर जो कर लगता था, जो वजह पास होता था, उस पर कितना स्थापना पर खर्च होता है, कितना अनुचित होता है, कितना क्या है, उसका पूरा डाटा डिटेल, पूरे विश्लेषण के साथ छपता था। उस पर किसका क्या मतव्य है, गवर्नर ने क्या कहा तो वायसराय ने क्या कहा, लंदन के, ब्रिटेन के अखबारों ने क्या लिखा, वहाँ के लिबरल पार्टी ने, कंजरवेटिव पार्टी ने क्या कहा, वहाँ के बुद्धिजीवियों ने, विक्टोरिया ने ... इन सब पर विचार-विश्लेषण के साथ वे लोग विस्तार से लिखते थे। मैंने कहा न विपुल साहित्य है नवजागरण का - जिसकी छानबीन नहीं हुई है। देखिए, मैं इस बात को दुहराता हूँ कि इसका यह मतलब नहीं कि वे सभी अत्यंत विशिष्ट लोग थे और हम एकदम गिरे हुए लोग हैं। नहीं - ऐसा बिल्कुल नहीं है। प्रगति हुई है और ख़ूब हुई है। सिर्फ़ एक चीज़ का अंतर हो गया है - नवजागरण को देखने में। हमने अपने समय, समाज के सरोकारों और उससे उपजने वाले दायित्वों से, हर संभव करणीय सक्रियता से हमने अपना तार तोड़ लिया है। हमने नवजागरण को पाठ्यक्रम बना दिया है। हमारे बौद्धिक, विलास का शगल बन गई है। फ़लों ऐसा है, वैसा है, हिन्दूवादी है, हिन्दीवादी है, सवर्ण है, यह है, वह है, ऐसा है, वैसा है, वह संकीर्ण है, जड़ है और एक हम हैं, उदार, आधुनिक और प्रगतिशील! यही सारे प्रपंच हमारे विचार भूगोल में आते हैं। यह गलत है - बिल्कुल ही गलत है। नवजागरण की कितनी कनछियाँ हैं, कितने गवाक्ष हैं, यह एक भाषण का विषय नहीं है। यह एक या दो आदमियों के बूते की बात नहीं है। जब सौ पचास आदमी मिलकर, पूरे ज़ब्बे से इसमें लगेंगे, अदीठ सामग्री की गहरी और निर्दोष छानबीन करेंगे, विवेकपूर्ण तरीक़े से सामने लाएँगे तभी यह बात साफ़ होगी कि यह काऊ बेल्ट था कि सन् १८५७ से १९४७ ई. के बीच क्या था? हिंदी में आज के हालात को देखते हुए यह मुख्य टॉस्क है। इसको गौण करके, महत्त्वहीन और ग़लत दिशा में बहस ले जाकर मामले को झुठलाना कोई

महत्वपूर्ण बात नहीं लगती। संभव हो, यह कोई सोची-समझी साजिश हो, अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर, अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं द्वारा संचालित हो। जिससे भारत की जनता की, भारतीय समाज की उपलब्धियों की, उसके संघर्ष को नकारा जा सके। उसे हेठ साबित किया जा सके, हेय सिद्ध किया जा सके। अब हालत यह है कि लोग इस बात पर फैलोशिप लेकर पूरी किताब लिख देते हैं कि लोगों ने 'लद्धड़' गद्य लिखने वाले भारतेन्दु से अपना नाभि-नाल रिश्ता क्यों क्लायम किया - प्रवाह वाली साफ़ सुथरी भाषा लिखने वाले शिव प्रसाद (सितारे हिंद) से क्यों नहीं? बात यह है कि जनता तो अपनी भाषा, अपनों की भाषा अच्छी तरह पहचानती है। वह रूप पर नहीं जाती, भाव और विचार पर जाती है। इसलिए मैं कह रहा हूँ कि ऐसा करने वालों के अपने समय, समाज से सरोकारों की पड़ताल कीजिए, उनकी नीयत पहचानिए।

ये बातें मैं भावना वश नहीं कह रहा। यूरोप में भी नवजागरण में, भारतीय नवजागरण में गहरी दिलचस्पी है। वहाँ भी काम हो रहे हैं, नवजागरण पर किताबें लिखी जा रही हैं। यूरोप में काम करने वाले एक अमेरिकी, बहुत दिन हुए मुझसे मिला था। कुछ वर्ष पहले फ्रेंसिस्का ओरसिनी ने मुझ से पत्राचार किया था। ये इटली की हैं और लंदन में भी रहती हैं। ऑक्सफोर्ड में ये हिंदी नवजागरण पर शोध कर रही थीं। इनकी पुस्तक ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय प्रेस से छप चुकी है The Hindu Public Sphere [1920-1949]।

एक ब्रिटिश इतिहासकार हैं - डेविड आरनोल्ड। भारत के औपनिवेशिक इतिहास पर, उन्होंने लंबे समय तक काम किया है। उनकी यह स्थापना है कि 'गौंधीवादी विचारधारा से सांप्रदायिकता को बढ़ावा मिला।' अब ब्रिटिश इतिहासकार ऐसी स्थापना दे रहा है तो भारतीय इतिहासकारों का पुनीत कर्तव्य है कि वे इस स्थापना को मनवाने के लिए जोर लगाएँ। इसलिए यह जो पूरा प्रकरण चलता आ रहा है - इसका एक ही उद्देश्य है - यह सिद्ध करना कि हिंदी भाषी जनता में संघर्ष की कोई परंपरा नहीं है, ये सांप्रदायिक रहे हैं, इनका कोई आत्मबोध नहीं है। वह तो अंग्रेजों ने आकर इनका आत्मबोध जगाया, आधुनिक बनाया। सोचने-समझने का इनके पास कोई ढंग नहीं था, विज्ञान की इनको समझ नहीं थी। किसानों की दशा कैसे सुधरेगी - जब वैज्ञानिक कृषि होगी - यह एक एडीटोरियल है - 'सार सुधा निधि' का।

देखिए अगर नवजागरण पर बात कीजिए तो बहस इस बात से शुरू कर, कि रामविलास जी ने क्या किया, क्या नहीं और अंत यह कि जो किया, वह गलत ही किया, इसे छोड़िए। नवजागरण साहित्य के अरण्य में धोती

खोंटकर साफ़ मन ओर खुले दिमाग़ से उतरिए। रामविलास जी के नवजागरण को सही ग़लत सिद्ध करना हमारा उद्देश्य नहीं होना चाहिए। हम अगर अपने समय और समाज की परिवर्तनशील लड़ाई में शामिल हैं तो हमें जहाँ जो सार्थक लगेगा - उससे जोड़े। पूरे युग को सामने लाकर अपनी मौजूदा ज़रूरतों से जोड़ने का विवेक विकसित किए बिना, नवजागरण के महत्त्व को समझना मुश्किल है। इसलिए फ़र्स्ट हैंड देखें - नवजागरण साहित्य को। फाग वाले इंसुरी, बिरहा वाले बिसराम और बिदेशिया शैली वाले भिखारी ठाकुर - हमारे नवजागरण के सिपाही हैं या नहीं ? रामविलास जी ने दस-बीस को लेकर नवजागरण .. नवजागरण कर दिया तो आप उसे बढ़ाकर सौ, दो सौ, हजार कर दीजिए। इसे पाठ्यक्रम मत बनाइए, इसे समय, समाज के बदलाव - व्यवहार में लाइए। और हाँ, इस गुमान में भी मत रहिए कि आपके करने, न करने के भरोसे नवजागरण का अस्तित्व है। नवजागरण के लोग जनता के दिलो-दिमाग में बसे हैं। अपने जनपदों में उनको लेकर किंवदंतियाँ बन चुकी हैं। उनके बोल जनता के कंठ में महफूज रहेंगे। आप नवजागरण की धंधई करते रहें। आप अपने को चाहें जितना तीसमार-खों समझें - जनता किसी का भी झूठ नहीं ढोती।

तो अंत में, मैं यहीं कहना चाहूँगा कि जब तक हमारा नज़रिया अपने मौजूदा समय, समाज के प्रति दुरुस्त नहीं होगा, तब तक नवजागरण को लेकर हम पानी पर लकीर ही खींचते रहेंगे। हमें उसे अभी की ज़रूरतों से जोड़ना होगा। हमारी अपनी जो नैतिक ज़िम्मेदारी है, अपने समय में जो सार्थक सक्रियता है - तब जो हमारा बोध बनेगा, वही सही अर्थों से नवजागरण का वास्तविक निष्कर्ष होगा। जिनको नवजागरण के बारे में अपने निष्कर्ष दूसरों के आधार पर ही तय करने हैं, तो जिसे जो विश्वसनीय लगे, उससे तय कर लीजिए। जब सौदा ही तय करना है, अपना काम कही चलाना है, धंधा ही करना है तो रामविलास जी से मुनाफ़ा मिले, तो उनसे तय कर लीजिए, चाहे वीर भारत तलवार जी से कर लीजिए, मुद्राराक्षस जी से कर लीजिए - यह आपके ऊपर निर्भर करता है। लेकिन मेरी गुज़ारिश यह है कि फ़स्टहैंड नवजागरण को, उसकी मूल स्रोत सामग्री को देखिए, बिना किसी पूर्वाग्रह के पड़ताल कीजिए और मौजूदा समय, समाज से जोड़कर अपनी राय तय कीजिए।

[मध्य प्रदेश साहित्य परिषद द्वारा भारत भवन में 'हिन्दी नवजागरण' पर आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी में दिये गये व्याख्यान के संपादित अंश]

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu